UGC Approved Journal No - 49297
ISSN 2231 - 4113

Śodha Pravāha

A Multidisciplinary Refereed Research Journal

Vol. 8, Issue II, March 2018

Chief Editor
Dr. S. K. Tiwari
Editor
Dr. S. B. Poddar

शंकराचार्य की ब्रह्म विषयक दृष्टि

डॉ. ममता मिश्रा *

वेदान्त दर्शन के सम्प्रदायों में अद्वैत दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शंकराचार्य के दर्शन की व्याख्या करते हुए डॉ. राधाकृष्णन[1] का कहना है कि– "उनका दर्शन सम्पूर्ण रूप में उपस्थित है जिसमें न किसी पूर्व की आवश्यकता है न किसी अपर की चाहे हम सहमत हों या न हों उनके मस्तिष्क का प्रकाश हमें प्रभावित किये बिना नहीं रहता।" डॉ. दासगुप्ता[2] के अनुसार "शंकर के द्वारा प्रस्थापित दर्शन का प्रभाव इतना व्यापक है कि जब भी हम वेदान्त दर्शन की चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य उस दर्शन से होता है, जो शंकर के द्वारा मण्डित किया गया है।" शंकराचार्य के दर्शन में सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि और आलोचनात्मक एवं सृजनात्मक प्रतिभा समान रूप से विद्यमान थी। जिसके कारण उनका दर्शन आधुनिक काल के यूरोपीय एवं भारतीय दार्शनिकों को प्रभावित करने में सफल रहा। देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनित्स, बर्कले, ब्रैडले, काण्ट, फिक्टे, शैलिंग, हेगेल, रवीन्द्रनाथ टैगोर, डॉ. राधाकृष्णन, प्रो. के.सी. भट्टाचार्य, श्री अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द आदि के विचारों में हमें शंकराचार्य के विचारों की झलक दृष्टिगोचर होती है।

आचार्य शंकर के आविर्भाव के समय देश की धार्मिक एवं दार्शनिक स्थिति अच्छी नहीं थी। बौद्धधर्म का ह्रास होने के बाद भी उसका पूर्णतः अन्त नहीं हो पाया था और मीमांसक विद्वान कर्मकाण्ड के महत्त्व को समझाने का प्रयास कर रहे थे। ऐसी दशा में एक ऐसे प्रचारक की आवश्यकता थी, जो धर्म एवं दर्शन का प्रचार प्रसार कर धार्मिक एवं दार्शनिक एकता स्थापित कर सके। यह महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य शंकर ने अद्वैत–वेदान्त की स्थापना करके किया। यद्यपि शंकराचार्य को अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य से एक सबल पृष्ठभूमि प्राप्त हुई। किन्तु शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रमुख आधार बादरायण का ब्रह्मसूत्र दर्शन एवं उपनिषद दर्शन था। उनके दर्शन का मूलाधार उपनिषद् साहित्य था। उपनिषदों के आधार पर ही शंकराचार्य ने ब्रह्मविद्या का निरुपण किया और ब्रह्म को अद्वैत तत्त्व मानकर अद्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र–भाष्य में ब्रह्म की परिभाषा इस प्रकार दी है– "अस्य जगतो नामरुपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृ–संयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्त क्रियाफलाश्रयस्य मनसा अपि अचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभंग यतः सर्वज्ञात, सर्वशक्तेः कारणाद् भवति, तद् ब्रह्म।"[3] अर्थात् नामरूप के द्वारा अव्यक्त, अनेक कर्त्ताओं एवं भोक्ताओं से संयुक्त ऐसे क्रिया और फल के आश्रय, जिसके देश और काल व्यवस्थित हैं, मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है। इस परिभाषा के अनुसार ब्रह्म शांकर वेदान्त का सर्वोच्च तत्त्व है।

ब्रह्म की सत्ता व्यावहारिक देशिक, कालिक एवं वैचारिक सत्ताओं से विलक्षण है।[4] ब्रह्म समस्त जगत का अधिष्ठान है। समस्त चेतन एवं अचेतन, सामान्य एवं विशेष समस्त वस्तुओं का अन्तर्भाव ब्रह्म में ही होता है।[5] ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु देश–कालातीत होने के कारण ब्रह्म किसी भी स्थान पर नहीं कहा जा सकता। वह एक ऐसा सूक्ष्म तत्त्व है, जिसका निर्वचन वाणी एवं मन के द्वारा असंभव है। ब्रह्म की सत्ता के विषय में शंकराचार्य स्पष्ट कहते हैं–

ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधो नाभाववसानः इत्यध्यवस्यामः। ब्रह्मसूत्र, शा.भा., 3/2/22

अर्थात् ब्रह्म के अस्तित्त्व का निरुपण किसी दृष्टान्त के आधार पर असंभव है। ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में शंकराचार्य ने साधन चतुष्टय तथा ब्रह्म जिज्ञासा के स्वरूप का वर्णन किया है। द्वितीय सूत्र जन्माद्यस्य यतः ब्रह्म का लक्षण बताया है। अर्थात् जन्मादि जिससे होते हैं वह ब्रह्म है।

ब्रह्म का स्वरूप निर्धारित करने के लिए ब्रह्म का लक्षण बताते हुए आचार्य शंकर कहते हैं– "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ब्रह्मणो लक्षणार्थं वाक्यम्"[6] अर्थात् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यह वाक्य ब्रह्म का

* एसोसिएट प्रोफेसर, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

Volume VIII Issue 2 March 2018 ISSN 2249-8907

Vaichariki

A Multidisciplinary Peer Reviewed Refereed International Research Journal

Chief Editor:
Dr. Manoj Kumar

योग दर्शन में चित्त विचार : एक विमर्श

*डॉ. ममता मिश्रा **

भारतीय दर्शन में योग एक अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। इसके संकेत एवं बहुत सुन्दर विवेचन संहिता[1], आरण्यक[2] एवं उपनिषद्[3] में दृष्टिगत होते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार हिरण्य गर्भ योग के वक्ता हैं।[4] महर्षि पतंजलि ने योगशास्त्र का केवल अनुशासन किया है। 'अथयोगानुशासनम्'[5] सूत्र से भी यह स्पष्ट होता है कि महर्षि पतंजलि ने योशास्त्र का अनुशासन किया है प्रणयन नहीं।

योग सूत्रकार महर्षि पतंजलि ने 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः[6] कहकर योग को परिभाषित किया है। उन्होंने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है। योग दर्शन में चित्त का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ चित्त का तात्पर्य मन बुद्धि और अहंकार से है।[7] यह अत्यन्त चंचल है। अतः इनके निरोध की आवश्यकता है। चित्त त्रिगुणात्मक होने के कारण परिणामी है। सत्त्व रज और तम इन तीनों गुणों के अनुसार चित्त की प्रख्याशील, प्रकृतिशील और स्थितिशील तीन अवस्थायें होती हैं।[8]

प्रख्यारूप अवस्था में सत्त्व, रज तथा तम से युक्त होने के कारण चित्त में ऐश्वर्य और प्राप्ति विषयों की तीव्र इच्छा रहती है। किन्तु वे उसे प्राप्त नहीं होते क्योंकि वह रज और तम से युक्त होता है। इस दशा में सात्त्विक गुण की अधिकता से जब चित्त में रज का लेशमात्र भी मल शेष नहीं रह जाता तब वह विवेक या ज्ञान को प्राप्त कर समाधि के योग्य बन जाता है। द्वितीय अवस्था में चित्त तमोगुण के प्रभाव के कारण अधर्म एवं अज्ञान से युक्त हो जाता है। तृतीय अवस्था में चित्त तमोगुण के क्षीण होने पर रजस् के अंश से युक्त होने पर धर्म, ज्ञान और वैराग्य से व्याप्त होता है।

यहाँ वृत्तिनिरोध चित्त की सभी भूमियों में होने वाला धर्म है। योग दर्शन में 'ताश्च क्षिप्तं मूढ़ं विक्षिप्तम् एकाग्रं निरुद्धमिति चित्तस्य भूमयः चित्तस्यावस्थाविशेषोः'[9] चित्त की पाँच भूमियाँ या अवस्थाएँ स्वीकार की गई हैं। इन पाँचों भूमियों में वृत्तियों का कुछ न कुछ तो निरोध अवश्य होता है यथा– क्षिप्तावस्था में तमोगुण तथा सत्त्वगुण का, मूढ़ावस्था में रजोगुण तथा सत्त्वगुण का, विक्षिप्तावस्था में केवल तमोगुण का। चित्त की पाँच भूमियों का वर्णन इस प्रकार है–

क्षिप्त– इस अवस्था में चित्त रजोगुण की अधिकता के कारण चंचल बना रहता है। क्षिप्तावस्था में चित्त संसार के सुख–दुःखादि के लिए व्यथित रहता है। इस अवस्था में इन्द्रियों और मन पर संयम का अभाव रहता है। उसका ध्यान किसी एक वस्तु पर केन्द्रित नहीं हो पाता वह एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर आकृष्ट होता है।

मूढ़– यह चित्त की वह अवस्था है जिसमें चित्त तमोगुण की अधिकता के कारण विवेकशरन्य रहता है। इस अवस्था में निद्रा एवं आलस्य की प्रबलता रहती है। चित्त में निष्क्रियता का उदय होता है विवेक न होने के कारण मनुष्य क्रोधादि के द्वारा विरुद्ध कृत्यों में प्रवृत्त हो जाता है।

विक्षिप्त– यह चित्त की तीसरी अवस्था है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में विक्षिप्त की परिभाषा 'क्षिप्ताद् विशिष्टं विक्षिप्तम्'[10] कहकर दी है। इस परिभाषा के अनुसार विक्षिप्त की स्थिति क्षिप्त से विशिष्ट है। क्योंकि इसमें सत्त्व गुण की अधिकता रहती है। जिसके कारण कभी–कभी चित्त स्थिरता को प्राप्त कर लेता है। चित्त का ध्यान कुछ समय के लिए वस्तु पर जाता है किन्तु वह स्थिर नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि इस अवस्था में चित्त की स्थिरता का आंशिक अभाव रहता है। यह अवस्था तमोगुण से शून्य है किन्तु इसमें रजोगुण का कुछ अंश विद्यमान रहता है। यह क्षिप्त और मूढ़ के मध्य की अवस्था है।

एकाग्र– 'एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोधः'[11] एकाग्रावस्था में चित्त की बाह्य वृत्तियों का निरोध हो जाता है। इस अवस्था में चित्त सत्त्व गुण के प्रभाव में रहता है। सत्त्व गुण की प्रबलता के कारण इस अवस्था में ज्ञान का प्रकाश रहता है। चित्त अपने विषय पर देर तक ध्यान लगाता है। यद्यपि इस अवस्था में सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता है, फिर भी यह अवस्था योग में सहायक होती है।

निरुद्धावस्था– 'निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलयः'[12] निरुद्धावस्था में चित्त के समस्त संस्कारों तथा समस्त वृत्तियों का विलय हो जाता है। सब वृत्तियों और संस्कारों के लय हो जाने पर

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शन विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

UGC Approved Journal No - 48728

ISSN 2249 - 8893

P.PUBLICATION

Annals of Multi-Disciplinary Research

A Quarterly International Peer Reviewed Refereed Research Journal

Chief Editor :
Dr. R.P.S. Yadav

Editor :
Dr. Sarvesh Kumar

मीमांसा दर्शन में वेद की अपौरुषेयता : एक विवेचन

डॉ. ममता मिश्रा *

आस्तिक दर्शनों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का खण्डन करने लिए नास्तिक सम्प्रदाय सदैव प्रयत्नशील थे। अतएव एक ऐसे सबल शास्त्र की आवश्यकता थी जो दृढ़तापूर्वक वैदिक सिद्धान्तों की स्थापना कर सके। न्याय दर्शन ने एक समृद्ध तर्कशास्त्र, वैशेषिक दर्शन ने एक पुष्ट पदार्थ विज्ञान, सांख्य दर्शन ने तर्कसंगत सृष्टि विज्ञान एवं योग दर्शन ने योग के सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ–साथ योग के व्यावहारिक पक्ष पर भी जोर दिया तथा मीमांसा दर्शन ने दैनिक आचार की पवित्रता तथा स्वर्ग एवं मोक्षपरक जीवन पद्धति प्रदान की। मीमांसा दर्शन के दो प्रधान विषय हैं[1]–

– कर्मकाण्ड की विधियों में जो परस्पर विरोध दिखलायी पड़ता है उनके परिहार के लिए व्याख्या पद्धति का आविष्कार करना।
– कर्मकाण्ड के आधारभूत सिद्धान्तों को युक्ति एवं तर्कों के द्वारा व्यवस्थित और प्रतिष्ठित करना।

चार्वाक, जैन तथा बौद्ध वेदों की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वेदों को विरोधियों के प्रबल प्रहारों से बचाने के लिए मीमांसा दर्शन सदैव कटिबद्ध रहा। मीमांसा दर्शन के प्रमुख आचार्य कुमारिल भट्ट ने अपने पाण्डित्य से लोकायतों और बौद्धों द्वारा वेदों और धर्म पर किये गये आक्षेपों का तार्किक ढंग से खण्डन करके मीमांसा शास्त्र के दार्शनिक स्वरूप को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने अपनी प्रखर बुद्धि के द्वारा बौद्धों के सभी आक्षेपों को निराधार सिद्ध करते हुए मीमांसा शास्त्र की पुनर्प्रतिष्ठा की। अपने ग्रन्थ मीमांसाश्लोकवार्तिक के आरम्भ में कहते वे हैं कि– मीमांसा शास्त्र लोकायत एवं बौद्ध आदि नास्तिकों के हाथ में आ गया है। उन्हें आस्तिक पथ पर लाने के लिए मैंने यह प्रयत्न किया है–

"प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्त्तुमयं यत्नः कृतो मया।।"[2]

यह कुमारिल का ही वैदुष्य था कि उन्होंने समान अधिकार के साथ बौद्ध शास्त्रों को समझते हुए वेदों एवं धर्म के स्वरूप की दार्शनिकता को स्पष्ट रूप से प्रमाणित किया। मीमांसकों के अनुसार वाक्य दो प्रकार के होते हैं–

पौरुषेय वाक्य– जिसका कर्त्ता कोई न कोई व्यक्ति ही होता है। पौरुषेय वाक्य की प्रामाणिकता तभी मानी जाती है जब वह आप्त पुरुष के द्वारा व्यवहृत किया गया हो।

अपौरुषेय वाक्य– जो किसी के द्वारा निर्मित नहीं होता, प्रत्युत स्वयं नित्य होता है। अपौरुषेय स्वयं श्रुति हैं। वेदों में सिद्धार्थक एवं विधायक दोनों प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं[3]–

सिद्धार्थक वाक्य– किसी पदार्थ की सत्ता को प्रदर्शित करने वाले वाक्य को सिद्धार्थक वाक्य कहते हैं। ऐसे वाक्य किसी वस्तु की सत्ता या स्थिति के बोधक होते हैं, जैसे– "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"[4] यह वाक्य ब्रह्म के स्वरूप का परिचायक है। अतएव सिद्धार्थक वाक्य है।

विधायक वाक्य– किसी अनुष्ठान के प्रेरक वाक्य विधायक वाक्य कहलाते हैं। ऐसे वाक्य किसी यज्ञ या विधि–अनुष्ठान का वर्णन करते हैं, जैसे– "स्वर्गकामो यजेत्" अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति को यज्ञ करना चाहिए। मीमांसकों का यह दृढ़ मत है कि वेद का तात्पर्य विधायक या विधि वाक्यों में ही है सिद्धार्थक वाक्यों में नहीं।

मीमांसकों ने वेदों का विषय विभाजन विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध तथा अर्थवाद इन पाँच रूपों में किया है।[5]

विधि– ऐसे वाक्य जिनमें कर्म की प्रवृत्ति का विधान रहता है। विधि के चार भेद हैं– उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, अधिकार विधि तथा प्रयोग विधि।

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शन विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी।

ISSN 2231 - 4113

Śodha Pravāha

A Multidisciplinary Peer Reviewed Refereed Research Journal

Vol.VIII, Issue 3 April 2018

Chief Editor
Dr. S. K. Tiwari
Editor
Dr. S. B. Poddar

भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद की अवधारणा

डॉ. ममता मिश्रा *

भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्' (अर्थात् एक ही दर्शन है, ख्याति ही दर्शन है) के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि ज्ञानमीमांसा के अभाव में दर्शन की कल्पना नहीं की जा सकती है।[1] तत्त्वमीमांसा का अध्ययन भी ज्ञानमीमांसा के बिना अपूर्ण है। दोनों की पूर्णता दर्शन की पूर्णता है। ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत ज्ञान के स्वरूप, उसके स्रोत एवं प्रामाणिकता का विवेचन होता है। भारतीय विचारधारा के अनुसार ज्ञान का अर्थ जानना, बोध, सम्यक् बोध, पदार्थ को ग्रहण करने वाली मन की वृत्ति एवं शास्त्रानुशीलन आदि से है।[2] ज्ञान का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है– व्यापक अर्थ में और संकुचित अर्थ में। व्यापक अर्थ में ज्ञान शब्द का प्रयोग यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान के रूप में होता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा सहजता से समझा जा सकता है रात्रि में एक व्यक्ति रस्सी को देखकर रस्सी समझता है और दूसरा व्यक्ति रस्सी को देखकर साँप समझ लेता है। यद्यपि यहाँ ज्ञान दोनों को हो रहा है किन्तु दोनों के ज्ञान में अन्तर है। एक को यथार्थ ज्ञान हो रहा है और दूसरे को अयथार्थ ज्ञान हो रहा है। इसके विपरीत संकुचित अर्थ में ज्ञान एकमात्र यथार्थ ज्ञान का बोधक होता है। न्याय दर्शन में ज्ञान शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है।

यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहा गया है। वस्तु को उसी रूप में ग्रहण करना जिस रूप में वस्तु है 'प्रमा' है। रस्सी को रस्सी के रूप में ग्रहण करना प्रमा है। प्रमा शब्द में प्रयुक्त 'मा' धातु का अर्थ है 'ज्ञान' और 'प्र' से युक्त भा का अर्थ है प्रकृष्ट ज्ञान या यथार्थ ज्ञान। ज्ञान जब तक अपने सामान्य रूप में रहता है वह ज्ञान रहता है तथा उसमें स्वगत प्रकर्ष आने पर वह प्रमा हो जाता है। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान को प्रमा और अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहते हैं। प्रमा शब्द की व्युत्पत्ति है– 'प्रमीयते–प्रकर्षण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छियते प्रमा।'[3] अर्थात् संशयादि अप्रमा का अभाव प्रमा का प्रकर्ष है प्रमा का अभाव अप्रमा का प्रकर्ष है क्योंकि यह कथन अभाव अप्रमा है। इससे प्रमा के स्वरूप का बोध नहीं होता है। अतः प्रमा और अप्रमा के स्वरूप को जानने के लिए व्युत्पत्ति का आश्रय छोड़कर बाध्यतः स्वरूप लक्षणों की शरण लेनी पड़ती है।

नैयायिक यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते हैं। उनका यह मानना है कि– 'यथार्थानुभवः प्रमा'[4] अर्थात् यथार्थ अनुभव ही प्रमा है। जो अर्थ जैसा है यदि उसका अनुभव भी उसी रूप में हो तो उस अनुभव को उस अर्थ का प्रमा कहते हैं। प्रभाकर के अनुसार अनुभूति प्रमा है। 'अनुभूतिः प्रमाणम्'[5] के अनुसार किसी भी विषय का अनुभूत होना ही प्रमाण है। अनुभूति सदा यथार्थ होती है और स्वतः प्रमाण होती है। इनके अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश रूप में ही उत्पन्न होता है यह विषय को प्रकाशित करने के साथ–साथ स्वयं को भी प्रकाशित करता है। प्रकाश का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह स्वयं को प्रकाशित कर दूसरों को प्रकाशित करता है। जो स्वयं अंधेरे में हो वह दूसरों को आलोकित नहीं कर सकता।

भाट्ट मीमांसक 'अज्ञातार्थज्ञापक'[6] को प्रमा मानते हैं। उनके अनुसार प्रमा दोषरहित सामग्री से उत्पन्न अबाधित अर्थज्ञान है।[7] अर्थात् ऐसा ज्ञान जो दोषरहित सामग्री से उत्पन्न हो, अन्य ज्ञान से बाधित न हो और जिसमें अज्ञात वस्तु का अनुभव हो रहा हो वही ज्ञान प्रमाण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दार्शनिकों के द्वारा प्रतिपादित प्रमा के लक्षण में पर्याप्त मतभेद है। निश्चितता, नवीनता, यथार्थता, कारणदोषरहितता, उपयोगिता, अबाधितता आदि के आधार पर प्रमा के स्वरूप को निर्धारित किया जा सकता है।[8]

अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहते हैं। अर्थात् अप्रमा वह अयथार्थ ज्ञान है जिसमें पदार्थ के ऐसे ज्ञान का बोध होता है जैसा कि वह नहीं है। अप्रमा भ्रम अथवा मिथ्या ज्ञान का उस रूप में ज्ञान है

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शन विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

UGC Approved Journal No - 47299
Volume 8 Issue III April 2018 ISSN 2249-8907

Vaichariki

A Multidisciplinary Refereed International Research Journal

Chief Editor:
Dr. Manoj Kumar

जैनधर्म में श्रावकाचार की अवधारणा

डॉ. ममता मिश्रा *

प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष में ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति की धाराएँ समानान्तर रूप से प्रवाहित होती रहीं। श्रमण संस्कृति का पोषक जैन धर्म भारतवर्ष में आविर्भूत धर्मों में अत्यन्त प्राचीन धर्म है। यह मुख्य रूप से महावीर के उपदेशों पर आधारित है। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के अद्‌भुत समन्वय के कारण यह एक लोक कल्याणकारी धर्म के रूप में प्रकट हुआ। जैन धर्म जहाँ एक ओर अपरिग्रही, महाव्रतधारी निवृत्तिप्रधान श्रमण धर्म के रूप में दृष्टिगत होता है तो वहीं दूसरी ओर वह अणुव्रत धारी श्रावक धर्म भी स्वीकार करता है। इस प्रकार से जैन परम्परा में साधना की दृष्टि से हमें धर्म के दो स्वरूप दृष्टिगत होते हैं– श्रमण धर्म एवं श्रमणोपासक (श्रावक) धर्म

श्रमण धर्म– जैन धर्म का प्रमुख लक्ष्य राग–द्वेष आदि से रहित समभाव की स्थिति को प्राप्त करना है। समभाव रूप समता की स्थिति को प्राप्त करने के लिए श्रमण को हर समय समता के धर्म का पालन करना अनिवार्य है। समता में स्थित जीव ही श्रमण कहलाता है। जैन धर्म में श्रमण शब्द साधु या सर्वत्यागी, संयमी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। एक श्रमण के लिए आत्म साधना ही सर्वस्व है। उसके लिए व्रत, आराधना या संयम पालन में विकल्प के लिए कोई स्थान नहीं है। शरीर चला जाये यह उसे स्वीकार होता है पर साधना में कोई आँच आये यह वह किसी भी दशा में स्वीकार नहीं करता। इसीलिए जब वह श्रमण जीवन में प्रवेश करता है तो "सव्वं सावज्जं जोगं पक्चक्खामि" – अर्थात् आज से मैं सभी सावद्य पापसहित योगों मानसिक, वाचिक व कायिक प्रवृत्तियों का त्याग करता हूँ। इस संकल्प के साथ प्रवेश करता है। वह मन, वचन, काय इन तीनों योगों तथा कृत, कारित, अनुमोदित इन तीनों करणों के द्वारा हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह से सर्वथा विरत हो जाता है। वह न कभी हिंसा करता है न करवाता है और न ही उसका अनुमोदन करता है। यही कार्य वह अन्य सभी व्रतों के साथ भी करता है। विकल्प शून्य होने से यहाँ व्रत महाव्रतों की संज्ञा ले लेते हैं। इन महाव्रतों की पूर्ण आराधना हर व्यक्ति के लिए संभव नहीं है उस मार्ग पर कुछ दृढ़ निश्चयी, आत्मबली और साधक व्यक्ति ही चल सकते हैं। श्रमण को दस लक्षण, सत्ताईस मूलगुण, सत्रह नियमों एवं पाँच महाव्रतों का पालन करना पड़ता है। दशवैकालिक के चतुर्थ अध्याय में पाँच महाव्रतों के साथ–साथ रात्रि भोजन विरति का भी उल्लेख किया गया है और इसे श्रमण का छठा व्रत कहा गया है। श्रमण सूर्योदय से सूर्यास्त के बीच केवल एक समय आहार ग्रहण करता है। सूर्यास्त से सूर्योदय के मध्य भोजन सर्वथा निषिद्ध है। वह आहार को क्रय करके एवं निमंत्रण स्वीकार करके भी भोजन ग्रहण नहीं करते।

श्रमण विरक्त एवं संयमधारी होता है। अपार ऐश्वर्य एवं सम्पत्ति का वह तृणवत् त्याग कर देता है। वह अपने समस्त स्वामित्व का त्याग कर दीक्षा ग्रहण करता है। श्रमण के पास तीन पात्र रहते थे– एक आहार ग्रहण करने हेतु, दूसरा– जल पीने के लिए और तीसरा देहशुद्धि के लिए। ये पात्र ताँबे या काष्ठ से निर्मित होते थे। इसी प्रकार श्रमण शारीरिक शोभा या रुचि के लिए वस्त्रों को धारण नहीं करता था। वस्त्र को धारण करने के तीन प्रयोजन माने जाते थे– लज्जा निवारण, जन घृणा निवारण के लिए और शीतादि प्राकृतिक प्रहार से सुरक्षा के लिए वह ऊन और सूत से निर्मित वस्त्र ही पहन सकते थे। श्रमण अधिकतम 72 हाथ के और श्रमणी 96 हाथ लम्बाई के वस्त्रों का उपयोग कर सकते थे। श्रमण के लिए विशिष्ट कोटि की भिक्षा प्रणाली निर्धारित की गयी थी जिसे गोचरी अथवा मधुकरी के नाम से जाना जाता था। इस प्रकार श्रमणत्व स्वेच्छा से अपनाया गया आत्मशुद्धि और सुख–प्राप्ति का मार्ग है। यह साधना मार्ग चाहे कितना भी दुर्गम क्यों न हो साधक इस मार्ग में जैसे जैसे आगे

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

UGC Approved Journal No - 47168
ISSN 2231 – 413X

A Multidisciplinary Quarterly International Refereed Research Journal

SHODH PRERAK

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Refereed Research Journal

http://shodhprerak.blogspot.com

Vol. - VIII, Issue-3, April 2018

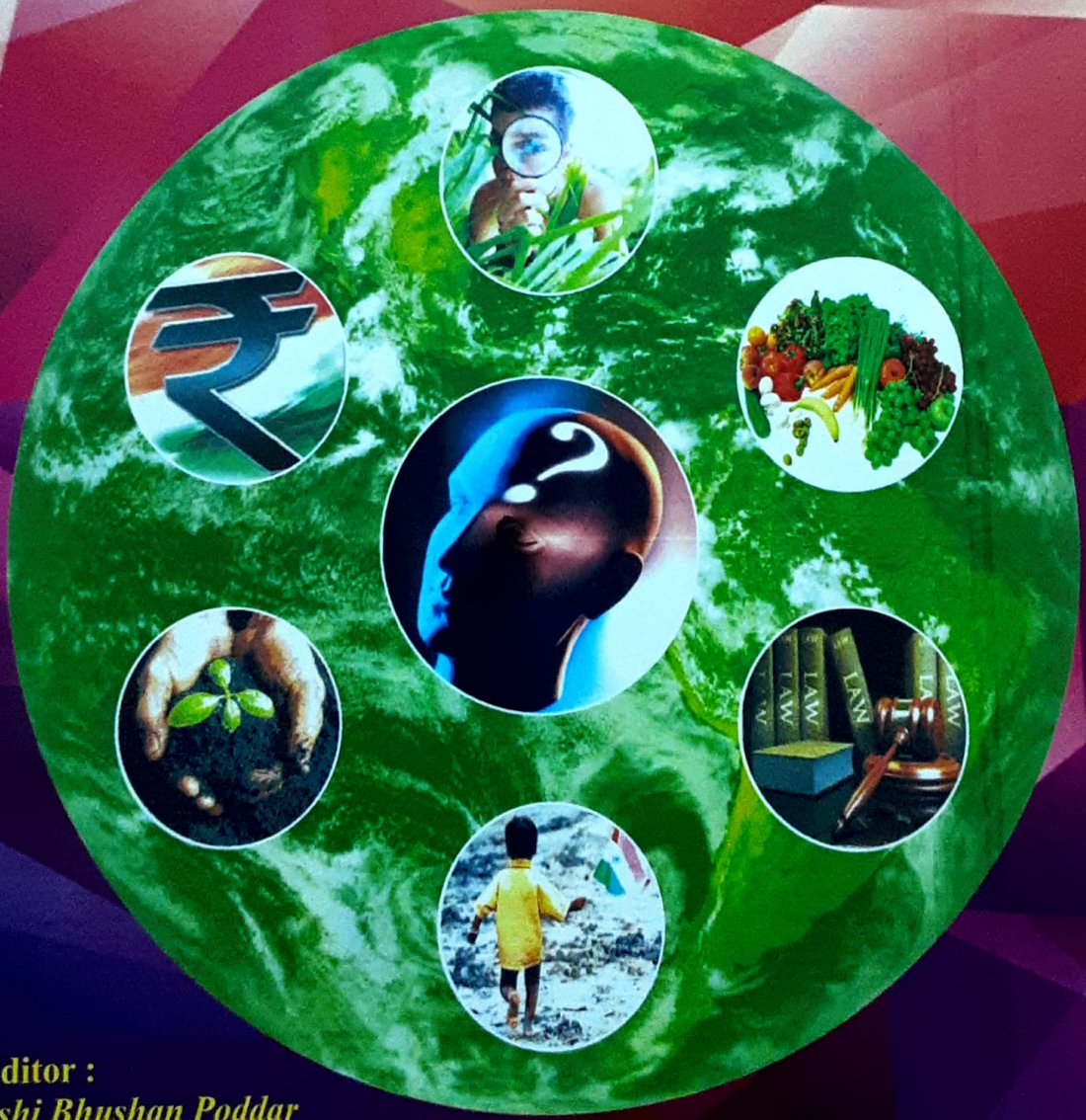

Chief Editor :
Dr. Shashi Bhushan Poddar

Editors :
Reeta Yadav
Pradeep Kumar

मीमांसा दर्शन में वाक्यार्थ विचार

*डॉ. ममता मिश्रा **

वैदिक धर्म एवं दर्शन की रक्षा तथा श्रेय एवं प्रेय की प्राप्ति कराते हुए समाज को सुव्यवस्थित रखने के उद्देश्य से मीमांसा दर्शन की रचना हुई। जब तक यज्ञ परम्परा कायम रही एवं मीमांसा का अध्ययन अध्यापन मनोयोग से होता रहा तब तक समाज और व्यक्ति दोनों सुरक्षित एवं सुव्यवस्थित रहें। प्राचीनकाल से ही समाज को सुव्यवस्थित करने में मीमांसा दर्शन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। मीमांसा शब्द पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि यह उतना ही प्राचीन है जितने वेद। तैत्तिरीय संहिता[1], मैत्रायणी संहिता[2], काठक संहिता[3], शांखायन ब्राह्मण[4], शतपथ ब्राह्मण[5], ताण्ड्य महाब्राह्मण[6], तैत्तिरीय ब्राह्मण[7], तैत्तिरीय आरण्यक[8], उपनिषद्[9], श्रौतसूत्र[10], धर्मसूत्र[11] आदि ग्रंथों में हमें मीमांसन्ते, मीमांसेरन् और मीमांसा आदि शब्दों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

वैदिक संहिताओं में मीमांसा का प्रयोग क्रिया के अर्थ में, कौषितकी ब्राह्मण[12] में मीमांसन्ते शब्द का प्रयोग विचार के अर्थ में एवं उपनिषदों[13] में मीमांसा शब्द विवेचन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि वैदिक काल से सूत्रभाष्य काल तक मीमांसा शब्द विचार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रारम्भ में कर्मकाण्ड के अनुष्ठानों से सम्बन्धित नियमों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करना मीमांसा का मुख्य प्रयोजन था। इस प्रकार वैदिक युग में मंत्र और ब्राह्मण वेद वाक्यों की सहायता से यागादि कर्मों के अनुष्ठान विषयक विधि और निषेध का प्रतिपादन करते हुए मीमांसा दर्शन का स्वरूप विकसित हुआ। किन्तु बाद में धीरे–धीरे कर्मकाण्ड का व्यापक प्रचार प्रसार होने के कारण यागादि कर्मों की प्रक्रिया के विषय में मतभेद होने लगे। संहिता और उपनिषद् काल के अनन्तर मीमांसा को तंत्र, न्याय एवं तर्क आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाने लगा और ग्रंथों के नाम भी रखे गये, यथा–तन्त्ररहस्य, तर्क कौमुदी, तंत्रवार्तिक, तंत्ररत्न, न्यायरत्नाकर, न्यायकणिका, न्यायमालाविस्तर आदि। बाद में वेद वाक्यों का अति सूक्ष्म चिन्तन और विश्लेषण करने के कारण तथा वेद के अर्थ का विस्तृत विचार कर कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की व्याख्या करने के कारण इसे मीमांसा के नाम से जाना जाने लगा।

मीमांसकों के अनुसार वेद क्रियापरक हैं।[14] वैदिक कर्मकाण्ड का मूल भी धर्म ही है। अर्थसंग्रह "स च वेदों विधिमंत्रनामधेय निषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः" के अनुसार विधि लक्षण युक्त धर्म का प्रतिपादन करने वाले वेदवाक्य पाँच प्रकार के हैं– विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद।

विधि– ऐसे वाक्य जिनमें कर्म की प्रवृत्ति का विधान रहता है, जैसे– "स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत" (स्वर्ग की कामना करने वाले को ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए)। विधि कार्य की विधायिका होती है अतः जो वाक्य विधायक या प्रेरक होता है विधि कहलाता है। प्रयोजन की दृष्टि से वैदिक विधि के तीन भेद किये जाते हैं– अपूर्व विधि, नियम विधि एवं परिसंख्या विधि।

अपूर्व विधि– यह सर्वथा अज्ञात अर्थ की ज्ञापक होती है। अपूर्व विधि के उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, प्रयोग विधि और अधिकार विधि यह चार भेद दृष्टिगत होते हैं।

नियम विधि– अनेक प्राप्त साधनों में से किसी एक साधन की प्राप्ति की नियामक होने के कारण यह नियम विधि कहलाती है।

परिसंख्या विधि– अनेक प्राप्त साधनों में से इतर साधन की निवर्तक होने से यह विधि परिसंख्या कहलाती है। परिसंख्या विधि श्रौती और लाक्षणिकी के भेद से दो प्रकार की होती है।

मंत्र– जैमिनी के मतानुसार मंत्र यागक्रिया के अनुष्ठान काल में अनुष्ठेय पदार्थ का स्मरण कराने में समर्थ होने के कारण अर्थ का प्रकाशन करते हैं। इसीलिए मंत्र अनुष्ठेय यागादि क्रियाओं के प्रेरक हैं।[15] मंत्र वाक्यों के मुख्यतः तीन भेद हैं–

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शन विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी।

दार्शनिकी

DĀRŚANIKĪ

UGC Referred Journal No. 47891 ISSN 2230 7435

दर्शनशास्त्र की वार्षिक शोध-पत्रिका

वर्ष - 14, जुलाई 2017-जून 2018

दर्शनशास्त्र विभाग
मानविकी संकाय
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी

भारतीय सामाजिक सन्दर्भों में स्त्री विमर्श

डॉ0 ममता मिश्रा

भारतीय समाज में अति प्राचीन काल से ही नारी का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रागैतिहासिक काल में मातृसत्तात्मक परिवार होने के कारण नारी की स्थिति पुरूषों से श्रेष्ठ थी। आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में नारियों को विशेष अधिकार प्राप्त थे। वैदिक युग में नारी पति की अर्धांगिनी थी। शतपथ ब्राह्मण 5/2/1/10, 8/7/2/3; तैत्तिरीय संहिता 6/1/8/5; ऐतरेय ब्राह्मण 1/2/5 इत्यादि स्थानों पर पत्नी पति की अर्धांगिनी कही गयी।[1] अपने त्यागमय कार्यों एवं गुणों के आधार पर उसने अर्धांगिनी का स्थान प्राप्त किया। परिवार के सभी कार्यों और निर्णयों में वह महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती थी।

वैदिक काल में स्त्रियों की शिक्षा पर कोई प्रतिबन्ध न था, वेद और शास्त्रों में पारंगत होने के अतिरिक्त उन्होंने ऋचाओं का निर्माण किया। लोपामुद्रा, घोषा, सूर्या, अपाला, विलोमी, सावित्री, यमी, विश्वम्भरा, श्रद्धा, कामायनी, देवयानी आदि को विद्वता के आधार पर ऋषिका और ब्रह्माणी कहा गया। उनका भी उपनयन संस्कार होता था। वैदिक शिक्षा के साथ वह यज्ञादि का सम्पादन कर सकती थी। पारिवारिक यज्ञों में नारी का क्रियात्मक सहयोग रहता था। बौधायन धर्मसूत्र 2/2/63–64; याज्ञवल्क्य स्मृति 1/72, 74, 78, 82, वसिष्ठ धर्मसूत्र 28/1–9; मार्कण्डेय पुराण 21/69–76 आदि कई स्थलों पर नारी की प्रशंसा की गयी।[2]

उत्तर वैदिक काल में भी महिलायें उच्च शिक्षा से विभूषित थीं। उद्दालिका, आर्तभागा, विदग्धा, अश्वला, गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषी महिलाओं की दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चर्चाओं में सफलतापूर्वक भागीदारी होती थी। रामायण और महाभारत में महिलाओं का विदूषियों के रूप में कम और तप, त्याग, नम्रता, पति सेवा आदि गुणों से विभूषित गृहस्वामिनी के रूप में अधिक मिलता है। यद्यपि रामायण में भी कैकेयी, अनुसूया आदि को विदुषी नारी के रूप में चित्रित किया गया है एवं महाभारत में भी नारी के स्वतंत्र विकास के उदाहरण मिलते हैं। किन्तु यह तो निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि रामायण एंव महाभारत काल में नारी अधिकार पहले जैसे नहीं थे। स्त्रियों का प्रमुख गुण व कर्त्तव्य पतिसेवा और आज्ञापालन हो गया। रामायण में एक धोबी के संदेह व्यक्त करने पर राम जैसे महापुरूष का सीता को वन में भेज देना और महाभारत में पाण्डवों द्वारा अपनी

एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

UGC Approved Journal No - 40957
ISSN 0974 - 7648

JIGYASA

An Interdisciplinary Refereed Research Journal

जिज्ञासा

Chief Editor :
Indukant Dixit

Executive Editor :
Shashi Bhushan Poddar

Editor :
Reeta Yadav

आधुनिक जीवन में योग दर्शन की प्रासंगिकता

डॉ. ममता मिश्रा *

योग एक जीवन दर्शन है जीवन जीने की कला है, इसलिए जीवन की समस्याओं के समाधान में योग दर्शन की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आधुनिक जीवन शैली की समस्याओं का मुख्य कारण अव्यवस्थित दिनचर्या, व्यस्तता के कारण उत्पन्न मानसिक तनाव, मानसिक अशान्ति, असन्तोष तथा अति भौतिकतावाद आदि हैं। योग दर्शन इन समस्याओं के समाधान में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। योग से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक क्षमता का विकास होता है। स्वस्थ शरीर एवं मन में ही अच्छे विचारों का निवास होता है। मानसिक एकाग्रता के लिए योग का ज्ञान परमावश्यक है। इस विद्या की साधना से मनुष्य के जीवन की समस्याओं का समाधान सम्भव है। भारतीय ऋषियों एवं मनीषियों ने इस विद्या की साधना के द्वारा अनेक व्यक्तिगत एवं सामाजिक उपलब्धियाँ अर्जित कीं।

भारतीय षड्दर्शनों में योग दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार के कारण उस समय लोगों में वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति उपेक्षा का भाव पनपने लगा तथा लोगों का ईश्वर के ऊपर से विश्वास डगमगाने लगा था। अतः ऐसे अवसर पर महर्षि पतंजलि को कर्मकाण्ड की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। फलतः उन्होंने वेद की पुनः प्रतिष्ठा के लिये योगशास्त्र का अनुशासन किया। उनके 'अथ योगानुशासनम्'[1] सूत्र से भी यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने योगशास्त्र का अनुशासन किया है प्रणयन नहीं। योग दर्शन में योग के व्यावहारिक पक्ष को प्रधानता दी गयी है।

योग शब्द की निष्पत्ति समाध्यर्थक (दिवादिगणी, आत्मनेपदी, अनिट युज् धातु (युज समाधौ धातुपाठ, 1202) से योजनं योगः इस विग्रह भावे[2] सूत्र से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करके होती है। करण व्युत्पन्न योग शब्द की निष्पत्ति उपर्युक्त युज् धातु से ही युज्यते चित्तमनेन इति योगः इस विग्रह में करणाधिकरणयोश्च[3] से प्राप्त ल्युट् का बाहुलक दृष्टि से बाध कर 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्'[4] सूत्र के करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करके होती है। इस प्रकार भावव्युत्पन्न समाधि शब्द की निष्पत्ति सम् तथा आंग उपसर्गपूर्वक धरणार्थक जुहोत्यादिगणी, उभयपदी, अनिट् धा धातु[5] से समाधानं समाधिः इस विग्रह में उपसर्गे घोः किः[6] सूत्र से भाव अर्थ में कि प्रत्यय करके होती है और करणव्युत्पन्न समाधि शब्द की निष्पत्ति उपर्युक्त धातु प्रत्ययादि से ही 'समाधीयते चित्तमनेन इति समाधिः' इस विग्रह में उपर्युक्त प्रकार से ही होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि योग और समाधि

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शन विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी।

दार्शनिकी
DĀRŚANIKI

ISSN 2230-7435

U.G.C. Care Listed

दर्शनशास्त्र की वार्षिक शोध-पत्रिका

वर्ष - 18, जुलाई 2021-जून 2022

दर्शनशास्त्र विभाग
मानविकी संकाय
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी

योग दर्शन में ईश्वर का स्वरूप

* प्रो0 ममता मिश्रा

सारांश

योग दर्शन में ईश्वर का महत्त्व दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टि से अधिक है। पतंजलि ने ईश्वर को न तो उपनिषदों की भाँति सृष्टिकर्त्ता निरूपित किया और न अक्षपाद की भाँति कर्मफल प्रदान करने वाला। योग दर्शन में ईश्वर कर्म नियम का अध्यक्ष न होकर समाधि की सिद्धि में सहायक है। योग सूत्रों में ईश्वर प्रणिधान को समाधि की सिद्धि में सहायक माना गया है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है ईश्वर की भक्ति। योग दर्शन के अनुसार परमसत्ता ईश्वर की ही है। ईश्वर के साक्षात्कार से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है।

मुख्य शब्द :

ईश्वर, सर्वज्ञ, ईश्वर प्रणिधान, समाधि, कैवल्य, योग, तर्क, भक्ति, अविद्या, अनुग्रह, सृष्टिकर्त्ता, कर्मफल–प्रदाता, नित्य, सर्वव्यापी, ऐश्वर्य।

साहित्यावलोकन :

प्रस्तुत शोध पत्र के लेखन में मैंने जिन अनेक ग्रंथों का अध्ययन एवं अवलोकन किया उन सभी ग्रंथों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। शोध–पत्र का प्रारूप तैयार करने में सहायक अधोलिखित ग्रंथ इस प्रकार हैं– महर्षि पतंजलि कृत योगसूत्र, आचार्य बलदेव उपाध्याय कृत भारतीय दर्शन, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा कृत भारतीय दर्शन की रूपरेखा, चन्द्रधर शर्मा कृत भारतीय दर्शनः आलोचना और अनुशीलन, राममूर्ति शर्मा कृत भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा, जयदेव वेदालंकार कृत भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास (भाग 1), डॉ. ममता मिश्रा कृत भारतीय दर्शन ।

उद्देश्य :

प्रस्तुत शोध–पत्र का मुख्य उद्देश्य योगदर्शन में प्रतिपादित ईश्वर विषयक विचारधारा का निरूपण करना है। इस आलेख में योगसूत्र एवं सहायक ग्रंथों के आधार पर ईश्वर के स्वरूप एवं उसके गुणों का विवेचन किया गया है।

प्रस्तावना :

सांख्य और योग दोनों समान तंत्र सिद्धान्त हैं। दोनों का दार्शनिक आधार एक ही है। योगदर्शन ने सांख्य के पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार करने के साथ ही छब्बीसवें तत्त्व ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार करते हुए यह स्पष्ट किया कि परम सत्ता ईश्वर की ही है। ईश्वर के साक्षात्कार से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। पतंजलि के "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"[1] इस सूत्र के अनुसार ईश्वर एक विशेष प्रकार का पुरुष है जो (अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष,

---

* **प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी।**

वैश्विक परिदृश्य एवं नैतिक मूल्य
सम्पादक
प्रो० ज्योत्सना श्रीवास्तव

अनुक्रमणिका

अध्याय		पृ०सं०
1. **Ethical Issues in Sports: When the Will to Win Exceed the Spirit of Sport** **Dr. Archana Singh**	...	01-31
2. **Ethical Issues in Information Technology** **Mrs. Dipika Singh,** **Dr. Rakhi Garg**	...	32-39
3. **The Highest Value - *Vasudhaiva Kutumbakam*** **Prof. Jyotsna Srivastava**	...	40-48
4. **Swami Vivekanand : A Global Educator** **Dr. Saraswati Kumari**	...	49-57
5. प्राचीन भारतीय मूल्यों का वर्तमान में मूल्यांकन (मनुस्मृति के विशेष सन्दर्भ में) कुमारी मासुमा	...	58-68
6. वैश्विक परिवेश में पुरुषार्थ चतुष्टय एवं नैतिकता का महत्व रीता त्रिपाठी	...	69-79
7. वैश्विक परिदृश्य में पुरूषार्थ–धर्म और अर्थ के विशेष सन्दर्भ में डॉ0 सरिता रानी	...	80-89
8. युग द्रष्टा स्वामी विवेकानन्द : वास्तविक पुरूषार्थ एवं नैतिक मूल्यों के प्रतिष्ठाता मनीषा मिश्र	...	90-104

9. वैश्विक युग में नैतिक मूल्यों की प्रासंगिकता ... 105-109
डॉ. ममता मिश्रा

10. मानव जीवन में योगदर्शन का महत्व ... 110-121
नैन्सी गुप्ता

9

वैश्विक युग में नैतिक मूल्यों की प्रासंगिकता

डॉ. ममता मिश्रा*

मानव जीवन में मूल्यों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य मूल्यों के आधार पर अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है। मानव के जन्म के साथ ही मानवीय मूल्यों का प्रादुर्भाव हुआ ऐसे सभी मूल्य जो मानव को उत्कृष्ट जीवन की ओर अग्रसर कर उसके जीवन को सुन्दर और कल्याणकारी बनाते हैं, उन्हें मानवीय मूल्यों की संज्ञा दी जा सकती है। मूल्यों का निर्माण वैयक्तिक एवं सामाजिक मनोवृत्तियों के द्वारा होता है। जो सामाजिक सम्बन्धों को संगठित कर एक स्वस्थ समाज का निर्माण करते हैं। जिसके परिणामस्वरूप समाज में एक व्यवस्था एवं सन्तुलन बना रहता है। मूल्यों के बिना किसी भी सुसंस्कृत समाज की स्थापना सम्भव नहीं है। अतएव स्वस्थ समाज की स्थापना के लिए मूल्य परमावश्यक हैं।

मूल्य शब्द का सामान्य अर्थ महत्त्व है किन्तु अर्थशास्त्रीय दृष्टि में वह भौतिकता एवं नैतिक दृष्टि से गुण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस स्थल पर अर्बन का उल्लेख करना उपयुक्त होगा वे कहते हैं– "मूल्य वह है जो मनुष्य की इच्छा को तृप्त करे, जो व्यक्ति और उसकी जाति की रक्षा में सहायक सिद्ध हो तथा केवल वही चरम रूप में और साध्य रूप से मूल्यवान् है जो आत्मिक विकास और आत्मसाक्षात्कार की ओर अग्रसर करे।" अर्बन के उक्त विचारों से तीन बातें मुख्य रूप से स्पष्ट होती हैं–

मूल्य वह है जो इच्छा की तृप्ति करे।

मूल्य वह है जो जीवन की रक्षा और वृद्धि करे।

*एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शन विभाग वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी।

Dr. Jyotsna Srivastava

Professor of Philosophy

M.A. - Gold Medalist

Ph.D. in Philosophy

Convenor, Alumnae Association, Mahila Mahavidyalaya

Banaras Hindu University, Varanasi-221005 (UP)

Teaching Experience - 35 years

Published 2 books, 2 books under publication & Published more than 20 Research Papers.

मूल्य-510/-

Published by:

Future Fact Society

Off.:C4/270, Chetganj,

Varanasi (UP), India

E-mail-samajikisandarsh@gmail.com

ISBN-978-93-88209-09-0

Promoting Sustainable Development through Higher Education : An Overview

Editor : Dr. Supriya Singh

Co-Editor : Dr. Kumud Ranjan

Contents

Foreward	.. ..	iii
Message	.. ..	iv
Acknowledgement	.. ..	v
Preface	.. ..	vi-xvi

1. **Introduction** **19-23**
   Dr. Supriya Singh
2. **Values in Higher Education : Indian Perspective** **24-43**
   Devendra Nath Tiwari
3. **Challenges of Sustainable Development Goals and Youth Empowerment in India** **44-67**
   Rama Kant Rai
4. **Holistic Development: The Gandhian Way Forward** **68-76**
   Rita Agrawal
5. **Enhancing Skill Competencies for Rapid Development in Indian Context** **77-86**
   Dr Archana Mishra
6. **The Importance of Physical and Mental Fitness in Higher Education as part of India's Growth Story** **87-92**
   Saumye Ranjan
7. **Emotional Intelligence: Promoting Skills that Matter** **93-97**
   Dr.Madhuri Agarwal
8. **Significance of Literature in a Value-based Education System** **98-104**
   Dr. Niharika lal ,
9. **Human Values in Literature: A Need of the Present Time** **105-112**
   Dr Anupma Garg
10. **Vocation & Value-Orientation in the Educational Principles of Historical India and Contribution of Theosophical Society** **113-120**
    Dr. Nairanjana Srivastava

11. **Need of Reading Literature in Higher Education** 121-124
Dr. Purnima

12. **Skill Development through Experiential Learning: Concept and Implementation in Education System** 125-134
Dr. Jai Singh

13. **Significance of Traditional Knowledge and Indigenous Pedagogy in Higher Education: A Step towards Sustainability** 135-140
Dr.Sunita Dixit

14. **Holistic Development And Sensitizing Stake Holders** 141-147
Anamita Mitra

15. **Value Education and Skills Development in Relation to Indigenous Enterprises** 148-152
Dr. Priyanka Kumari

16. **Human Resource Development and Skilled Unemployment in India** 153-163
Dr. Akhilesh Kumar Rai

17. विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के शैक्षिक वातावरण को कैसे बेहतर बनायें? 164-178
सिद्ध नाथ उपाध्याय

18. मानवीय मूल्यों का व्यवसायीकरण 179-182
डॉ0 नन्दिनी वर्मा

19. उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रमों में नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की प्रासंगिकता 183-188
डॉ0 ममता मिश्रा

20. भारत में कौशल विकास एवं मूलपरक शिक्षा : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य 189-192
डॉ0 पूनम पाण्डेय

21. शैक्षिक परिदृश्य में कलाओं के समन्वय की आवश्यकता 193-198
डॉ0 सीमा वर्मा

22. हिन्दी गीतिनाट्य में मूल्यों की अभिव्यक्ति 199-204
डॉ0 शशिकला

19.

उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रमों में नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की प्रासंगिकता

✦ डॉ0 ममता मिश्रा

✦ एसोसिएट प्रोफेसर दर्शन विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है। शिक्षा का व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन के साथ–साथ सामाजिक जीवन में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व में मानवीय मूल्यों, मानदण्डों, नियमों एवं आदर्शों को स्थापित कर सहयोग, सहिष्णुता, दया, प्रेम, करुणा, मैत्री, ईमानदारी, परोपकार आदि नैतिक गुणों का विकास कर चरित्र निर्माण में सहयोग प्रदान करती है। एक शिक्षित एवं सुसंस्कृत नागरिक, समाज एवं देश के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निवर्हन कुशलतापूर्वक करता है। कोई भी शिक्षा तभी उपयोगी एवं सार्थक होती है जब वह भौतिक प्रगति के साथ–साथ मानवीय मूल्यों को भी सुदृढ़ कर सके। आज इस तथ्य से सभी सहमत हैं कि शिक्षा मूल्यपरक होनी चाहिए। क्योंकि मूल्यविहीन शिक्षा अर्थहीन है उससे व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र किसी का भी कल्याण नहीं हो सकता है अतः शिक्षा का मूल्यपरक होना अति–आवश्यक है।

मूल्यपरक शिक्षा से तात्पर्य ऐसी शिक्षा से है जो मनुष्य में नैतिक एवं मानवीय मूल्यों का विकास करे। अतः जो शिक्षा बच्चों में अच्छी आदतों, सद्प्रवृत्तियों एवं निर्णय क्षमता तथा नैतिकता का विकास करे उसे मूल्यपरक शिक्षा कहा जा सकता है। डॉ० एच०एस० बैस के अनुसार "वस्तुतः मूल्य न तो कौशल हैं और न ही ज्ञान के अंश है जिन्हें सीखा जाय। यह तो आस्था और विश्वास है, आदर्श और प्रतिबद्धताएँ हैं, जिनका सम्बन्ध मानसिक और मनोवैज्ञानिक निर्माण से है। यह अर्जित की जा सकने वाली ज्ञान की इकाई नहीं, यह तो अपनायी गयी आदत व व्यवहार में अभिव्यक्त मानक तत्त्व हैं। इनका सम्बन्ध अभिवृत्तियों और आदतों से होता है। सोचने, विचारने और निर्णयन से इनका सम्बन्ध होता है।"[1]

KALA PRAKASHAN

B. 33/33, A-1, New Saket Nagar Colony
B.H.U., Varanasi

ISBN : 97-93-87199-96-5

9 79 3 8 7 1 9 9 9 6 5

ISBN : 97-93-87199-96-5

M.R.P. Rs. : 650.00

The Indian Renaissance and Swami Vivekananda

Editor :
Dr. Niharika Lal

Contents

Acknowledgment		... ...	**iii-iv**
Foreword		... ...	**v-vii**
Preface		... ...	**viii-xviii**
Chapter No.	***Chapter Name***		***Page No***
1	**Why Study Swami Vivekananda** *Dr. Anirban Ganguly*	... ...	**23-29**
2	**Understanding Swami Vivekananda** *Prof. Sanjay Srivastava*	... ...	**30-33**
3	**भारत में पुनर्जागरण** *Prof. R.K. Mishra*	... ...	**34-40**
4	**शिक्षा का अर्थ एवं महत्व** *Prof. Geshe Nawang Santen*	... ...	**41-46**
5	**स्वामी विवेकानंद और राष्ट्रवाद** *प्रो० रवि प्रकाश पाण्डेय*	... ...	**47-52**
6	**स्वामी विवेकानन्द और वेदान्त** *प्रो० राजीव रंजन सिंह*	... ...	**53-58**
7	**विवेकानन्द का शिक्षा में योगदान** *प्रो० कल्पलता पाण्डेय*	... ...	**59-69**
8	**स्वामी विवेकानन्द : घनीभूत भारत का पूर्णार्थ** *डॉ० चंद्रकला त्रिपाठी*	... ...	**70-72**
9	**धर्म, शिक्षा और राष्ट्र** *प्रो० रचना श्रीवास्तव*	... ...	**73-82**

10	**Vivekananda's Poetry : A Catharsis** *Dr.Bina Singh*	.....	83-87
11	**Swami Vivekananda's Vision on Rural Development** *Dr. Kumud Ranjan*	.....	88-103
12	**Relevance of Vivekananda for Inclusive Development of India** *Dr. Indu Upadhayay*	.....	104-112
13	**Swami Vivekananda and Dr. Annie Besant** *Dr. Nairanjana Srivastava*	.....	113-117
14	**Swami Vivekananda on Social Equality** *Dr. Anuradha Bapuly*	.....	118-124
15	**Swami Vivekananda's Ideas and Philosophy of Education** *Mrs.Priyanka*	.....	125-133
16	**The Nineteenth Century 'Indian Renaissance' and Swamiji's Spiritual Renaissance** *Partha Sarathi Nandi*	.....	134-145
17	**Education For Social Reconstruction And Swami Vivekananda** *Dr. Vijaya Rao*	.....	146-153
18	**The Indian Renaissance And Swami Vivekananda** *Yadavendra Dubey*	.....	154-163
19	**An Unexplored Strand of a Monk: Relevance in the Contemporary Era of Intolerance** *Dr. Supriya Singh, Ramesh Singh*	.....	164-170
20	**Swami Vivekananda's Concept of Womanhood** *Dr. Madhuri Agarwal*	.....	171-174
21	**Swami Vivekananda and National Awakening** *Dr. Renu Srivastava*	.....	175-179
22	**The Quest of a Nation : Vivekananda's Approach to Formulating a National Identity and Unity** *Dr. Purnima*	.....	180-186

23 स्वामी विवेकानन्द का समाजवादी चिंतन एवं नव्य वेदान्त समाजवाद 187-190
डॉ. कल्पना आनन्द

24 युगद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द 191-198
डॉ. दीप्ति सिंह

25 स्वामी विवेकानन्द : एक अज्ञात कवि 199-203
डॉ. सपना भूषण

26 स्वामी विवेकानन्द जी की धार्मिक दृष्टि 204-209
डॉ0 ममता मिश्रा

27 समकालीन समय में राष्ट्रवादी विमर्श एवं विवेकानन्द के विचार 210-213
डॉ0 शशिकेश कुमार गोंड

28 स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में मानव-एकता का आदर्श 214-224
अश्विनी कुमार

29 स्वामी विवेकानन्द के विचारों की वर्तमान में प्रासंगिकता 225-235
त्रिभुवन मिश्र, अमित कुमार

30 स्वामी विवेकानन्द जी के दर्शन की धर्म विषयक अवधारणा 236-246
डॉ0 विभा रानी

31 भारत का नवनिर्माण : स्वामी विवेकानंद की दृष्टि 247-254
डॉ0 आशा यादव

32 स्वामी विवेकानंद की शिक्षा और अनहद नाद 255-262
डॉ0 मीनू पाठक

33 ऊर्जा स्त्रोत विवेकानन्द 263-269
डॉ0 पूनम पाण्डेय

34 स्वामी विवेकानन्द के आध्यात्मिक अनुगूँज में सांगीतिक स्वर 270-276
डॉ0 सीमा वर्मा

★

26

स्वामी विवेकानन्द जी की धार्मिक दृष्टि

✦ डॉ0 ममता मिश्रा

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय चिन्तन के धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष पर नयी दृष्टि से चिन्तन की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। भारतवर्ष के पुनर्जागरण में राजा राममोहन रॉय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, डॉ0 एनी बेसेन्ट, श्री रानाडे, श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर, श्री अरविन्द एवं स्वामी विवेकानन्द ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। विवेकानन्द ने अपने कर्मठ व्यक्तित्व तथा दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों की अमिट छाप भारत में ही नहीं वरन् विदेशों में छोड़ी। विदेशों में भारतीय संस्कृति की महानता तथा धर्म के सार्वदेशिक स्वरूप को जितने तार्किक एवं स्पष्ट रूप से उन्होंने प्रस्थापित किया वैसा उनके पूर्व एवं बाद का कोई भारतीय न कर सका। उनके भाषणों एवं रचनाओं में व्यक्त विचार यह प्रस्थापित करते हैं कि वे भारतीय राष्ट्रवाद के एक धार्मिक सिद्धान्त की नींव का निर्माण करना चाहते थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की उन्नति एवं प्रगति तभी सम्भव है जब हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आशावादी दृष्टिकोण अपनायें। यदि हम ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करेंगे जो हमें नियतिवादी या भाग्यवादी बनाते हैं तो हम कभी आगे नहीं बढ़ सकते। उन्होंने मनुष्यों को दुर्बल बनाने वाले विचारों का परित्याग कर उन्हें जीवन के प्रति आशावान बनाया।

विवेकानन्द यह भली–भाँति जानते थे कि भारत में धर्म एक ऐसा शाश्वत तत्त्व है जिसे समझे बिना मानव समाज की संरचना एवं स्वरूप को समझना असम्भव है। भारतीय संस्कृति में प्रयुक्त धर्म शब्द अंग्रेज़ी शब्द रिलीजन (Religion) से भिन्न है। मनुस्मृति[1] में मनु ने दस लक्षणों के माध्यम से धर्म को प्रस्थापित किया है। यहाँ धर्म व्यक्ति के इहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन को सार्थकता प्रदान करने वाला है। वैशेषिक सूत्र[2] में वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ने जिससे

✦ असोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा-वाराणसी।

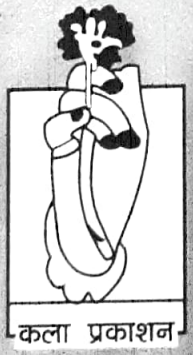

KALA PRAKASHAN

B. 33/33, A-1, New Saket Nagar Colony
B.H.U., Varanasi

ISBN : 978-93-87199-44-6

9 7 8 9 3 8 7 1 9 9 4 4 6

ISBN : 978-93-87199-44-6

M.R.P. Rs. : 1100.00

भारतीय दर्शन की चिन्तन परम्परा

प्रो. (डॉ.) ममता मिश्रा

विषय-सूची

समर्पण	**iii**
प्रस्तावना	**v-vi**
प्रथम अध्याय : भूमिका	**1—18**
भारतीय दर्शन का वर्गीकरण	
भारतीय दर्शन की विशेषताएँ	
भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन	
भारतीय दर्शन का विकास	
द्वितीय अध्याय : भारतीय चिन्तन परम्परा के मूल स्रोत	**19—27**
वेद	
ब्राह्मण	
आरण्यक	
उपनिषद्	
तृतीय अध्याय : श्रीमद्भगवतगीता का चिन्तन	**28—37**
गीता का माहात्म्य	
ज्ञानमार्ग या ज्ञानयोग	
कर्ममार्ग या कर्मयोग	
भक्तिमार्ग या भक्तियोग	
चतुर्थ अध्याय : चार्वाक दर्शन	**38—62**
प्रमाण–विचार	
विश्व सम्बन्धी विचार	
आत्मा सम्बन्धी विचार	
ईश्वर सम्बन्धी विचार	
नैतिक विचार	
समीक्षा	
पंचम अध्याय : जैन दर्शन	**63—92**
जैन दर्शन का साहित्य	
जैन दर्शन के आचार्य	

प्रमाण–विचार
अनेकान्तवाद
स्याद्वाद
द्रव्य विचार
अनीश्वरवाद
बन्धन और मोक्ष

षष्ठम् अध्याय : बौद्ध दर्शन 93–128

बौद्ध दर्शन का साहित्य
चार आर्य सत्य
प्रथम आर्य सत्य (दुःख)
द्वितीय आर्य सत्य (दुःख समुदय)
तृतीय आर्य सत्य (दुःख निरोध)
चतुर्थ आर्य सत्य (दुःख निरोध मार्ग)
क्षणिकवाद
अनात्मवाद
अनीश्वरवाद
बौद्ध दर्शन के प्रमुख सम्प्रदाय
माध्यमिक – शून्यवाद
योगाचार – विज्ञानवाद
सौत्रान्तिक – बाह्यानुमेयवाद
वैभाषिक – प्रत्यक्षवाद
बौद्ध मत के धार्मिक सम्प्रदाय
हीनयान
महायान

सप्तम् अध्याय : न्याय दर्शन 129–153

प्रमाण विचार
प्रत्यक्ष
अनुमान
उपमान
शब्द
असत्कार्यवाद
ईश्वर विचार

अष्टम् अध्याय : वैशेषिक दर्शन 154–174
पदार्थ निरूपण
द्रव्य
गुण
कर्म
सामान्य
विशेष
समवाय
अभाव
सृष्टि और प्रलय का सिद्धान्त

नवम अध्याय : सांख्य दर्शन 175–213
कार्य कारण सिद्धान्त (सत्कार्यवाद)
प्रकृति और उसके गुण
पुरुष की अवधारणा
पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि
प्रकृति पुरुष द्वैतवाद
विकासवाद
प्रमाण विचार
बन्धन और मोक्ष

दशम अध्याय : योग दर्शन 214–229
चित्तभूमियाँ
अष्टांग साधन
ईश्वर का स्वरूप

एकादश अध्याय : मीमांसा दर्शन 230–253
मीमांसा दर्शन के सम्प्रदाय
प्रमाण विचार
प्रत्यक्ष
अनुमान
शब्द
उपमान
अर्थापत्ति
अनुपलब्धि (अभाव)

प्रामाण्यवाद
ईश्वर विचार

द्वादश अध्याय : वेदान्त दर्शन **254–274**

अद्वैतवेदान्त
मायावाद,
ब्रह्मविचार
ईश्वर विचार
बन्धन और मोक्ष
विशिष्टाद्वैत
मायावाद की आलोचना
बन्धन और मोक्ष
द्वैतवाद
द्वैताद्वैतवाद

परिशिष्ट–I प्रश्न समूह **275–278**

परिशिष्ट–II वस्तुनिष्ठ प्रश्न **279–289**

परिशिष्ट–III ग्रन्थावली **290–300**

कला-प्रकाशन

बी. 33/33-ए-1, न्यू साकेत कालोनी

बी. एच. यू., वाराणसी-5

ISBN : 978-93-87200-34-0

9 7 8 9 3 8 7 2 0 0 3 4 0

ISBN : 978-93-87200-34-0

मूल्य : 1200.00/-रुपये